ओ३म्

भाग्यवान गृहस्थी तथा आदर्श गृहस्थी

वीतराग महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

वीतराग महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

जन्म १८८७–महाप्रस्थान १६ मार्च, १९६७

सरलता–सादगी के प्रतीक–सौम्य सन्त प्रभुआश्रित जी आज से लगभग एक सौ पन्द्रह वर्ष पूर्व जिन्होंने निर्धनता के आंचल में नेत्र खोले, तपस्या के आंगन में लोरी सुनी, तपती दुपहरी में पोथी पढ़ी, अनिकेत रह कर गृहस्थी संभाली, भूखे रहकर हरिभजन किया, मौन रहकर आराध्य को रिझाया, साधक बनकर योग को साधा, प्रचारक बनकर यज्ञ को विस्तारा, चिन्तन करके गायत्री को सराहा, पोथी पढ़–पढ़कर जीवन को बांचा, यश अपयश से परे रहकर नाम–धन अर्जित किया और अन्त में पंचतत्व की चदरिया को ज्यों की त्यों धरकर जीवन मुक्त हो गए।

।। ओ३म् ।।

भाग्यवान् गृहस्थी
तथा
आदर्श गृहस्थी

लेखक :
वीतराग महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज

प्रकाशक :
वैदिक भक्ति साधन आश्रम,
आर्य नगर, रोहतक

प्रकाशक एवं वितरक :
वैदिक भक्ति साधन आश्रम
आर्यनगर, रोहतक-१२४००१
(हरियाणा)

लेखक : वीतराग महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज

मूल्य : ६ रुपये

मुद्रक : मयंक प्रिन्टर्स, २१९९/६४, नाईवाला करौल बाग,
नई दिल्ली-५ दूरभाष : ५१५४८५०४, ५१५४८५०३
चलभाष : ९८११०४७९५३

दो शब्द

आधुनिक युग के यशस्वी सन्त महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज समस्त मानव जाति के लिए एक वरदान सिद्ध हुए हैं। पूज्य गुरुदेव परम त्यागी, तपस्वी, कर्मठ कर्मयोगी एवं वैदिक मिशनरी थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन वेद-यज्ञ-योग के प्रचार-प्रसार में लगा दिया। परमात्मा की कृपा से आपकी प्रेममयी सुमधुर वाणी को जिसने सुना उसका कायाकल्प हो गया।

महाराज जी की लेखनी अत्यन्त प्रभावशाली थी। जटिल से जटिल गूढ़ विषयों को सरल और रोचक भाषा में मनभावन और अनुप्रेरक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसी पुस्तक में लिखा है—

"जब कोई मनुष्य ऐसा काम करे जिसे देखकर देखनेवालों को सहसा मुख से यह कहना पड़े कि अरे! तू मनुष्य है अथवा पशु? तुमसे तो पशु भी अच्छे हैं, वे भी ऐसा नहीं करते। तब समझो कि वे ऐसे अवगुण हैं जोकि उसे पशु बनानेवाला है। दूसरे अवगुण उसे पशु से भी नीचे योनि में ले जानेवाले हैं। अर्थात् जिन की उपमा पशुओं से न दी जा सके वह दुर्गुण होंगे अर्थात् जिन कर्मों को रोकने का साधन पशुओं में नहीं और केवल मनुष्यों में है वे बुरे कर्म दुर्गुण कहे जायेंगे।"

१६-३-१९६७ को महाराज जी स्वर्ग सिधारे तथापि साधनावस्था उपरान्त उनकी अमर लेखनी से निकले हीरे-मोती शब्द वाक्य पुस्तक रूप में आध्यात्मिक जगत् में धर्मप्रेमी जनों

का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। लगभग ६ दर्जन पुस्तकों के अनेकों संस्करण छप चुके हैं फिर भी माँग सदा बनी रहती है।

रंगीन कवर, अच्छा कागज और सुन्दर छपाई द्वारा पुस्तक को आकर्षक बनाने हेतु लघु प्रयास किया है, जिससे पुस्तक मूल्य में कुछ बढ़ोत्तरी हुई है फिर भी धर्मप्रचार की भावना से पुस्तक का मूल्य लागत मात्र ही रखा गया है, जिससे सर्वसाधारण जन भी लाभ उठा सकें।

महाराज जी के अन्तःस्थल से निकले भावों को पढ़कर सभी प्रेमीजन अभिभूत हो जाएं, की कामना के साथ पाठकों के हाथ में पुस्तक सौंपते हुए हर्ष हो रहा है।

—दर्शन कुमार अग्निहोत्री
प्रधान

२३ अक्टूबर, २००४ वैदिक भक्ति साधन आश्रम,
रोहतक

ओ३म्

भाग्यवान् गृहस्थी

एक विरक्त साधु का किसी नगर में आगमन हुआ और वह नगर के बाहर किसी रमणीक वाटिका में ठहरे। साधु बड़े तपस्वी और तेजस्वी थे। श्रद्धालु भक्तों की इच्छा से सत्संग भी लगता। महाराज के अनुभवी उपदेश जनता को ऐसे मुग्ध कर देते कि उन्हें अपने गृह आदि सब विस्मृत हो जाते। अनेकों बार तो उपदेश समाप्त हो जाने की भी उन्हें सुध न रहती और ज्यों का त्यों बैठे डटे रहते। दृष्टि उनकी साधु पर रहती, कर्ण भी ऐसा प्रतीत करते कि हम कुछ श्रवण कर रहे हैं और मन मग्न हो रहा है।

साधु का नियम

साधु का नियम थां कि वह किसी के गृह जाकर भोजन न करते थे। जो खिलाता वहां ही लाता। ऐसी उन्होंने प्रथम दिवस से ही सूचना दे रखी थी।

श्रद्धालु का निमन्त्रण

आज एक सरल स्वभाव श्रद्धालु भक्त ने भोजन का निमन्त्रण दिया। स्वीकार होने पर स्वगृह को गया और अपनी धर्मपत्नी से कहा। वह सुनते ही अत्यन्त हर्षित होकर बोली, मैं तो भोजन ऐसे महाराज को घर पर खिलाऊंगी।

पति–उनका तो नियम ही ऐसा है। वह किसी के

गृह पर नहीं जाते।

पत्नी–वह गृहस्थी क्या? जिसके गृह पर पधारने से अतिथि इन्कार कर दे।

पति–जब किसी ने नियम ही ऐसा बनाया हो तो कोई कैसे और क्यों भंग कर सकता है? वह पूजनीय हुए हम गृहस्थी उनके आधीन हैं। हमारी क्या सामर्थ्य कि उनके नियम को भंग करें। आवश्यकता हमें है उनको भोजन खिलाने की, न कि उनको है खाने की?

नियम भंग

पत्नी–इसमें गृहस्थी की कमजोरी (त्रुटि) पाई जाती है। यह नियम मनुष्य का अपना बनाया हुआ है न कि परमात्मा का, अतः यह सर्वकाल और सर्वदेश सत्य नहीं हो सकता। हमारे तो एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, "मेहमान आया भगवान् आया"–यदि अतिथि (मेहमान) घर न आए, तो भगवान् कैसे आया समझा जाएगा।

पति–तो फिर कैसे लाया जाये? मुझे तो असम्भव सा प्रतीत होता है।

पत्नी मार्ग दर्शाती है

पत्नी–जैसे मैं प्रार्थना करती हूं उन्हीं शब्दों में आप प्रार्थना करेंगे तो वह अवश्य चले आवेंगे। भावना तो हमारे अपने ही हृदय की सच्ची और दृढ़ होनी चाहिए। किसी कवि ने कहा है–

चुपके-चुपके जो सदा[1] दिल से किया करता है।
उसको निश्चय से ही वह मन्जूर[2] किया करता है।।
बरगाहे[3] ईश से मायूस[4] न होना हर-गिज।
तू तो मनुष्य है वह च्यूंटी की भी सुना करता है।।

१. आवाज़, २. स्वीकार, ३. ईश्वर के द्वार, ४. निराशा

गृहस्थी की दीनता को प्रभु भी अनसुनी नहीं करते, विशाल करुणामय होकर सुना करते हैं तो उनके प्यारे क्यों उल्लंघन और अवहेलना करने लगे!

आप जब जाएं तो नतमस्तक, कर जोड़ यह प्रार्थना करें-

प्रार्थना

"भगवन्! महाराज को कष्ट तो अवश्य होगा परन्तु श्रीचरणों से मेरा गृह पवित्र हो जायेगा। हम कई क्षुद्र जीवों के जीवन की ज्योति श्री महाराज के दर्शनों से जग जावेगी।

हम दीन बुद्धिमलीन पतित आपके यजमानों की काया पलट जावेगी। हमारे गृह और पाकशाला की त्रुटियां सुधर जावेंगी। गृह में अतिथि यज्ञ (भोजन कराने) से हमारे लिए शेष, यज्ञशेष बनकर अमृत बन सकेगा, अन्यथा नहीं। उच्चकोटि के मनुष्य तो उच्च होते ही हैं, वे गृह पर खिलावें अथवा बाहर। मैं तो एक निकृष्ट-सा क्षुद्र जीव हूं और अवगुणों से लिप्त हूं। महाराज की करुणामय दया-दृष्टि से मेरे परिवार का सौभाग्य उदय हो जायेगा।

पति ने प्रार्थना कण्ठस्थ कर ली और पूछा क्या बनाओगी?

पत्नी–जो आपकी आज्ञा हो और उनको रुचिकर हो।

पति–आप खीर, मालपुए, व्यंजन, पुरोडाश (हलवा) बना दीजिए और पकोड़ों पर उनकी अधिक प्रीति रहती है, वह भी बना दीजिए।

पत्नी–बनाना तो यही कुछ चाहती थी परन्तु एक समय में सबका मेल नहीं। पुरोडाश और पकोड़े तो रात्रि को बनाऊंगी, शेष अब तैयार करूंगी।

पति–रात्रि का भोजन तो वह करते ही नहीं।

पत्नी–जब एक बार आ जावेंगे तो आप निश्चिन्त रहिये, रात्रि को बड़े हर्ष से चरण पधारेंगे।

देवी ने भोजन अगाध श्रद्धा तथा भक्तिभाव से तैयार किया। समय हुआ और भक्त महाराज की सेवा में गए।

प्रेम का कलश उमड़ पड़ा

नमस्कार कर, कर जोड़ ऐसी दीनता से प्रार्थना की कि मानसपुत्र प्रेम से पूरित हो गया और उमड़ पड़ा। नेत्रों से अश्रुपात होने लग पड़े।

साधु पर जादू चल गया

विरक्त साधु पर उसके भक्ति तथा श्रद्धा के शब्दों ने ऐसा प्रभाव किया कि साधु को अपना नियम ही

मस्तिष्क से विस्मृत हो गया और तुरन्त उठकर साथ चल दिये "नियम भंग हो गया।"

बुद्धि और शंका

मार्ग में जब सचेत हुआ तो विचार उत्पन्न हुआ कि यह भक्त कैसा श्रद्धालु है। वर्षों बीते हम किसी गृहस्थी के गृह भोजन करने नहीं गए, नियम नहीं तोड़ा। किसी एक ने भी ऐसे शब्दों से याचना न की। शंका हुई कि क्या यह इस भक्त की अपनी बुद्धि है अथवा धर्मपत्नी की? पूछने लगे-

क्यों भक्त जी ! यह तो बतायें कि तुम्हारी बुद्धि मुझे बांधकर ले जा रही है अथवा आपकी धर्मपत्नी की।

भक्त-भगवन्! मुझे इतनी बुद्धि कहां? यह तो मेरी धर्मपत्नी पर ही प्रभु की कृपा का प्रभाव है। मेरीं कमाई को शुद्ध पवित्र करनेवाली तो वही साक्षात् देवी हैं।

इतने में घर पहुंच गए। देवी ने दरवाजे पर जाकर सत्कार और नमस्कार की। सब बालकों ने भी चरणस्पर्श कर आशीर्वाद लिया, अन्दर पहुंचे।

साधु का सत्कार

देवी ने लोटा जल का पतिदेव को दिया, एक युवा बालक तौलिया उठाए समीप ही खड़ा है। पतिदेव ने महाराज के पग प्रक्षालन किये और हाथ मुंह धुलाए। बालक ने झट तौलिये से पग पोंछने आरम्भ कर दिये।

अतिथि देवता ने आज इस प्रकार का विलक्षण स्वागत देख गद्-गद् हो बालक से तौलिया खोस लिया और आप करने लगे।

आसन बिछा था, बिठाया।

भोजन परोस देवी ने पतिदेव के हाथों से आगे रखवाया।

देवी और साधु का संवाद

साधु-देवी जी! मैं भोजन खाने से पूर्व एक प्रश्न पूछना चाहता हूं, क्या उत्तर दोगी?

देवी-यथासम्भव और यथोचित आज्ञा का पालन करूंगी।

साधु-जिस प्रश्न को मैं पूछना चाहता हूं आपसे एकान्त में होकर पूछना चाहता हूं। आपका पति और बालक बाहर चले जावें किवाड़ बन्द कर दो, तब मैं पूछूंगा।

देवी-महाराज! अब यही तो एकान्त है निश्शंक होकर पूछिए।

साधु-इतने व्यक्तियों में एकांत कैसे? आप अकेली से ही एकांत होगा।

देवी-भगवन्! आपको भ्रम लग रहा है। एक पतिव्रता स्त्री के लिए तो इसे ही एकांत कहते हैं।

शरीर में जो देखने वाली आंखें हैं जब तक जागती हैं, इनको तो एकांत हो ही नहीं सकता।

मन विचार रहित न रहने से एकांत नहीं हो सकता। एकांत तो माना गया है जब आत्मा परमात्मा के अर्पण हो जावे। स्त्री अपने पति के अर्पण होने से स्त्री और पति एक हैं। स्त्री तो कभी भी किसी बात को अपने पति से नहीं छिपा सकती और न उसकी आज्ञा बिना चल सकती है। जब पति ही आत्मा है और पत्नी उसकी छाया है तो किससे पृथक् हो? बालक इन्हीं के अंग हैं। आप कृपा करके भोजन में प्रेम रस लीजिए और हमारे हृदय को पवित्र कीजिए। तत्पश्चात् जो आज्ञा होगी, मैं प्रश्न का उत्तर दूंगी।

साधु का प्रभाव

साधु की अन्तर्दृष्टि एकांत की सेवा से बहुत दूर पहुंच गई। प्रसन्नता से फूला न समाया। बड़े प्रेम से भोजन किया। परन्तु भोजन में एक-एक ग्रास में नए-नए ज्ञान की उपज होती पाई। दांत चबा रहे हैं और मन प्रभु के गुप्त ज्ञान को उत्पन्न कर-कर आह्लाद से भर रहा है और घरवालों का धन्यवाद गा रहा है।

भोजन समाप्त करने पर भक्त ने कुल्ला कराया और साधु आकर बैठ गए और संवाद फिर आरम्भ हुआ।

साधु—देवी! मेरा प्रश्न यह है कि आप बुद्धिमान हैं अथवा आपके पतिदेव?

देवी–भगवन्! बुद्धि तो सिर में होती है और मेरा सिर तो मेरे पतिदेव ही हैं, आगे कोई शंका रहती नहीं।

साधु ऐसे सारगर्भित शब्दों को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। ऐसे–ऐसे गृहस्थी छिपे पड़े हैं जो हमारे ज्ञान के अभिमान को हमारी भक्ति, तपस्या भाव को अपनी श्रद्धामयी सेवा से चूर–चूर कर देनेवाले हैं। यद्यपि मेरा नियम भंग हुआ परन्तु मेरा तो आज इस देवी–देवता ने आवरण उठा दिया। मेरा तो इन गृहस्थियों के चरणों को नमस्कार है। वस्तुतः उसका मस्तिष्क देवी के चरणों में दूर बैठे–बैठे झुकने लग पड़ा।

भक्त तो सरल स्वभाव वाला था। उसका ध्यान तो वहां न गया परन्तु देवी उधर ही साधु की सर्व चेष्टाओं तथा संकेतों को जो देख रही थी, जान गई और कहने लगी, भगंवन्! पूज्यदेव होकर लज्जित करते हैं। आपके आशीर्वाद से तो हमारा कल्याण होता है।

साधु चौंका! कहा, मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूं। आप मांगो क्या आशीर्वाद चाहती हो?

देवी–भगवन्! बस और कुछ अभिलाषा नहीं। सायंकाल भी पदार्पण करके हमें शेष खाने का सौभाग्य प्राप्त कराइए।

देवी का जादू चला। इन अनोखे निराले शब्दों ने मोहित कर लिया और साधु यह भी नहीं कह सके कि मैं रात्रि को भोजन किया ही नहीं करता, अवाक् हो गये

और तथाऽस्तु कहकर उठ खड़े हुए। नमस्कार की और भक्त पहुंचाने चले गए। मार्ग में साधु ऐसा मस्त हो गया कि भक्त से कोई बात नहीं कर सका।

दिन भर साधु आज ऐसा मग्न और मस्त रहा कि उसे बिना प्रभु चिन्तन और नवीन ज्ञान विचारधाराओं के तथा उस गृह परिवार के आकार प्रकार के और कोई बात अच्छी नहीं लगती।

सायंकाल हुआ, भक्त ने आकर सिर झुकाया और दोनों चल दिये।

सत्कार तथा परीक्षा

गृह पर पहुंचे। देवी तो फाटक पर खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी परन्तु साधु ने उसे पहले ही नमस्कार बोल दी। मर्यादापूर्वक बिठाया, भोजन परोस सामने रखा। पकोड़े थे भिन्न-भिन्न प्रकार के। बिना लवण, लवणीया तथा लवण मिर्च मसाले वाले पृथक् रखे। साधु ने देखा और पूछा, हैं तो सब पकोड़े परन्तु भिन्न-भिन्न क्यों?

देवी—हमें ज्ञान न था कि किस प्रकार के महाराज को हितकर और प्रकृति अनुकूल हैं। साधु ने कहा, हमें तो जैसा और जो भी मिल जावे, सब हितकर और अनुकूल है। इस बात का कभी विचार नहीं करते।

परीक्षा असफल

खाने लगे तो पहले बिना लवण पकोड़े पर हाथ पड़ा, उनमें स्वाद न आया। दिल में लज्जित हुए कि

यह तो झूठ हो गया। पहले तो बिना नमक अस्वाद न लगते थे आज क्यों ऐसा प्रतीत हो रहा है। खाते सब भूल गये, यही विचार समाया रहा। जब खा चुके तो लवण मसाले वालों को अधिक स्वाद पाया। तो अन्त में ज्ञात हुआ कि यह भी परीक्षा थी, अभिमान किया, असफल ही रहा और विचारने लगा कि यदि कोई और गृहस्थी होता जो कृत्रिम सेवा करनेवाला होता तो शब्द भी और प्रकार के प्रयोग करता। देवी ने तो ऐसे शब्द बोले कि जिससे उसकी तो भक्ति टपके परीक्षा मालूम ही न पड़े। यदि कह देती कि जो आप को अभीष्ट तथा रुचिकर है वह खावें तो मेरी जो आसक्ति उसे पता लग जाता कि मैं स्वाद के पीछे मरता हूं, परन्तु ऐसा कहा कि जो आपको हितकर तथा प्रकृति अनुकूल हो, शब्द में कितना भक्ति भाव भरा है। परन्तु मुझे आज अपना ज्ञान हुआ कि मैं स्वाद के लिए खाता हूं परन्तु फारसी के एक कवि ने और ही कहा है–

खुर्दन बराए जीस्तनो जिक्र करदन अस्त।
तू मोतकिद के जोस्तन अज़ बहरे खुर्दन अस्त।।

अर्थात् खाना जीने और प्रभु भक्ति के लिए है तेरा मत है कि जीना खाने के लिए है। मुझे नमक मसाले में आसक्ति है। यह देवी तो साक्षात् पूजनीय देवी है। मेरे आन्तरिक दोष को धोनेवाली है।

धन्यवाद

खा पीकर जब निवृत्त हुए देवी ने हाथ जोड़कर बड़ी श्रद्धा से धन्यवाद किया कि आपने हमारे जैसे क्षुद्र जीवों को दर्शन दिया और हमारे साधारण भोजन को स्वीकार कर कृतार्थ किया।

ऐसा कह और कुछ भेंट सामने धरी और कहा, कल्याण के लिए सुगम उपदेश और उपाय बताइए।

उत्तर

साधु—देवी! ऐसा गृहस्थ मैंने तो अपनी आंखों से नहीं देखा। मैं क्या उपदेश करूं? मेरा तो अभिमान आपने चूर-चूर कर दिया। रहा-सहा दोष भी मेरा आज मुझे प्रतीत करा दिया कि मैं किस गर्व में था।

भेंट, भेंट के रूप में देवी को लौटा दी और देवी से क्षंमा मांगी और वह चल दिये। भक्त पहुँचाकर वापस आया।

अन्न का प्रभाव

रात्रि को शयन किया। रात्रि क्या थी तनिक ऊंघ आती तो ऐसा प्रतीत होता कि देवी कह रही है 'साधो साधु के श्वास अनमोल होते हैं। इन्हें वृथा न गंवा, प्रभु के ध्यान में लगा।'

ऐसे रात्रि भर बार-बार उठकर बैठता और ध्यान करता।

प्रातः हुई और मन में विचार आया कि आज अभी

उसी गृहस्थी के गृह पर जाकर बासी टुकड़ा मांगो।

(कहां वह प्रतिज्ञा कि गृहस्थी के गृह पर जाकर भिक्षा याचना न करने खाने की शपथ ली थी और आज भिक्षा के लिए स्वयं दौड़ा जा रहा है। देवी के पवित्र विचार और सद्व्यवहार उस गृहस्थी की याद दिलाते रहे हैं।) उनके घर पहुंचा, क्या देखा कि बालक बैठे हैं। हर बालक के सम्मुख थाली में आधा-आधा बासी टुकड़ा और दधि रखी है। ज्यों ही उन्होंने देखा, सब उठ खड़े हुए और नमस्कार की। देवी ने भी नमस्कार की। भक्त गृह पर न था।

बालकों का आतिथ्य

और तो था नहीं। सब बालकों ने अपना आधा-आधा दिया। साधु ने कहा, बच्चो! तुम खाओ, तुम्हारा मैं नहीं लेता। वे रो पड़े। कहा, क्या हम ऐसे पापी हैं कि आप हमारी आधी रोटी भी स्वीकार नहीं करते?

सत्याग्रह

अब तो आपके बिना हम नहीं खायेंगे, सत्याग्रह करेंगे।

साधु ने एक का आधे से आधा ले लिया और कहा अब तुम खाओ। अन्य बालकों ने कहा—हमारा क्यों नहीं लेते? बालकों की तोतली भाषा में-हम तो देंगे ही, नहीं तो तुम्हारे मुख में ग्रास-ग्रास देवेंगे।

साधु बालकों के इस मीठे और दिल से निकले

शब्दों से प्रभावित तो हुआ और सबसे आधे का आधा ले लिया और खाया। बच्चों के प्रेम के आगे साधु झुक गया और कहा, वाह रे बालको ! क्षुधा तो मुझे बड़ी थी, परन्तु प्रेम के कतिपय ग्रासों ने मेरी उदरपूर्ति कर दी। बड़ी हर्षित आत्मा से आशीर्वाद दी और चल दिया।

वेद भगवान् सत्य कहता है कि वह गृहस्थी भाग्यवान् है जिसे अतिथि दूर से याद करते आवें और घर पूछते आवें, देखिए–

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः।।

(यजु० ३/४२)

वह गृहस्थी बड़ा भाग्यवान् है जिसको अतिथि जन दूर बैठे हुए भी याद करते हैं और बुलाते आते हैं।

अतिथि दो प्रकार के हैं एक वे, जिंनकी सेवा वस्त्रादि से की जाती है। ऐसे अतिथि से उनको कोई लाभ नहीं क्योंकि वे अपने आराम के लिए आते हैं। दूसरे वे कि जिनके गृह में पहुंचे से वृत्ति टिक जाए। वे भाग्यशाली हैं, ऐसा अतिथि कुछ दे जाता है। गृहस्थी अपने आपको नम्र दिखाता है और अतिथि सेवा के पश्चात् कहता है कि महाराज हम तो स्वार्थी हैं, हमें भाड़ा दो। हमें बताओ कि हमारा किस प्रकार बेड़ा पार हो? ऐसा मार्ग बताओ कि जिससे आत्मा को रस आये। अब वह भक्ति का रस बताता है। एक बार तो वह

उनके पापों को धो देता है। जिस प्रकार जल कुछ काल तक ठण्डा रखता है, उसी प्रकार गृहस्थी का पाप धुलकर वृत्ति टिक जाती है। तभी वेद ने अतिथि की सेवा की महिमा को गाया है। यहां तक वेद भगवान् ने बताया कि जिस गृह से अतिथि निराश होकर लौट जाता है वहां का ऐश्वर्य, यश, कीर्ति आदि सब कुछ ले जाता है।

अतः गृहस्थियो ! सावधान रहो। वेद की आज्ञा का पालन करते हुए गृहस्थ को चमकाओ और जीवन को सफल बनाओ। प्रभुदेव आप लोगों को सुमति तथा बल प्रदान करे ताकि इस आदेश को आप भली-भांति समझें तथा उद्देश्य पूर्ण कर सकें।

ओ३म्

आदर्श गृहस्थी

साधु की खोज

हरिद्वार का मेला था। एक सद्गृहस्थी भोजन उठाए स्त्री तथा बालकों को साथ लिए गंगातट पर जा किसी साधु की खोज कर रहा था कि कमण्डल उठाए एक साधु से भेंट हो गई।

साधु—वत्स! क्यों अधिक खोज करता फिरता है? इतनी दूर निकल आया। बालकों को भी विश्रान्त किया, कोई साधु आपको योग्य प्रतीत नहीं हुआ। आप के भोजन में कौन सी विशेषता है कि इतनी खोज और भ्रमण कर रहे हो? भोजन खिलाने में अधिक छान-बीन न किया करो।

भूखे को रोटी

गृहस्थी-भगवन्! आपने यह बात कैसे जान ली?

साधु-हमने तो नहीं जाना, हमारी क्षुधा ने जान लिया। क्षुधा नेत्रहीन होती है, जैसे बिल्ली को स्वप्न में भी छिछड़े सूझते हैं, ऐसे क्षुधा को भी भोजन दिखाई देता है। भूखा भूखे को मिल जाए तो ईर्ष्या करते हैं, परन्तु तुम भी भूखे हो और मैं भी भूखा हूं, हम दोनों मिलकर प्रसन्न हो रहे हैं, समझे मेरी बात को? सत्य है ना?

गृहस्थी–आप भी भूखे नहीं और मैं भी भूखा नहीं। आपकी बातें तो ऐसी हैं जैसे कोई तृप्त (रजा हुआ) बात करता है और मुझे प्रभु कृपा से सब कुछ प्राप्त हुआ है, और भूखा नहीं।

साधु–अच्छा तो तुम सत्य कहते होगे, हमने भूल की मौज करो, जहां जाना चाहते हो जाओ! हम भी आगे क्षेत्र को जा रहे हैं।

गृहस्थी–न महाराज न! मेरा कहने का यह अभिप्राय नहीं कि आप भोजन कर चुके हैं अपितु यह है कि आप में इच्छा नहीं। भोजन का तो समय है अवश्य आपने खाना होगा। लीजिए! मेरा सौभाग्य घर में ही मिल गया! साधु बैठ गए। कहा वत्स! हमको आपकी श्रद्धा ने बिठाया, हम तो अपने दोष को दूर करने के लिए बैठ गए हैं।

गृहस्थी–भगवन्! दोष तो मुझ से हुआ, क्षमा प्रार्थी हूं, आपने अपने में क्या दोष देख लिया?

साधु–बहुत छान–बीन करके भोजन खिलानेवाला महान् स्वार्थी और अभिमानी होता है, साधुओं को ऐसे का भोजन नहीं करना चाहिए। परन्तु बैठ इसलिए गए कि आप भूले ही रहोगे यदि हम आपसे उपेक्षा करके चल देते।

क्षुधा दो प्रकार की होती है

लो सुनो! मेरी क्षुधा तो प्राण को लगी हैं और पेट में है। थोड़े से अन्न से मिट जायेगी और आपकी क्षुधा लगी है मन को, और है भी मन में। मन को क्षुधा है स्वर्ग की, जिसे देखा किसी ने नहीं। मिटेगी अथवा नहीं? और कब मिटेगी? इसे कोई जान नहीं सकता, प्रभु जाने।

गृहस्थी–भगवन्! यह तो आपका दोष नहीं। मेरी भूल को दूर करने के लिए आप बैठ गए। यह साधुओं का गुण विशेष माना गया है।

दुर्गुण और अवगुण

साधु–हमने अपने अन्दर एक दुर्गुण भांपा जिसने हमसे वाक्छल तथा दम्भ कराया और पुनः एक ऐसा अवगुण भी देखा जिसने तप भंग कराया।

गृहस्थी–मैं तो दुर्गुण और अवगुण के एक ही अर्थ समझता रहा हूं, आपने और उलझन डाल दी।

साधु–गुण का अर्थ होता है रज्जु (रस्सी) और रज्जु बांधने के काम आती है। जीव बन्धा हुआ है दुर्गुण से तो मनुष्य परमात्मा से दूर हो जाता है और अवगुण से अधोगति होती है। दुर् का अर्थ दूर, अव का अर्थ है नीचे, बस यह एक स्थूल कसौटी है। जिन कर्मों

से मनुष्य का अपने मनुष्यत्व से नीचे पतन होगा वे अवगुण होंगे और जिन कर्मों से प्रभु से दूर रहेगा, वह दुर्गुण हैं।

गृहस्थी–भगवन्! आपने तो नीति बतलाई परन्तु कोई उदाहरण भी तो हो। ऐसे किस प्रकार समझ में आए? मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूं।

साधु–अच्छा अन्य प्रकार से समझो, जब कोई मनुष्य ऐसा काम करे जिसे देखकर देखनेवालों को सहसा मुख से यह कहना पड़े कि अरे! तू मनुष्य है अथवा पशु? तुमसे तो पशु भी अच्छे हैं, वे भी ऐसा नहीं करते, तब समझो कि वे ऐसे अवगुण हैं। एक अवगुण तो उसे पशु बनानेवाला है। दूसरे अवगुण उसे पशु से भी नीचे योनि में ले जानेवाले हैं अर्थात् जिन की उपमा पशुओं से न दी जा सके। वे दुर्गुण होंगे अर्थात् जिन कर्मों को रोकने का साधन पशुओं में नहीं और केवल मनुष्यों में है वे बुरे कर्म दुर्गुण कहे जायेंगे।

गृहस्थी–पहली बात तो समझ में आ गई। दूसरी अभी पूर्णरूपेण समझ में नहीं आई।

साधु–अच्छा तुम ही बताओ, मनुष्य में कौन-कौन सी इन्द्रियां पशुओं से अधिक हैं।

गृहस्थी–वाणी, मन तथा बुद्धि।

साधु–बस-बस! अब तुमने खूब समझ लिया,

असत्य बोलना, बुरा चिन्तन करना और अहंकार करना ये दुर्गुण हैं। इनसे प्रभु से सदा दूरी बनी रहती है।

गृहस्थी में श्रद्धा

यह उत्तर सुनकर गृहस्थी में श्रद्धा उत्पन्न हो गई। सिर झुकाया और श्रद्धा तथा प्रीति से भोजन कराया। साधु को भोजन में बड़ा रस आया और प्रसन्नवदन होकर बोला—प्रभु तुम्हारा भला करे।

गृहस्थी की पत्नी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, महाराज! कभी हमारे गृह को भी पवित्र करने का कष्ट करें। हम अमुक प्रान्त के रहनेवाले हैं। (देवी ने अपने गृह का पूरा पता बताया।)

भोग पीछे फिरता है

साधु ने उत्तर दिया, हमारे अपने वश की बात नहीं और न हमें अपने भविष्य का ज्ञान है। हां जिस प्रकार अब हमारे भोग को तुम उठाये फिरते थे, और भोक्ता जीव की खोज कर रहे थे और हमें उस भोग ने बांध लिया और तुम्हारे निकट कर दिया। भोग पीछे फिरता है। आगे भी यदि प्रभुदेव ने ऐसा किया तो सम्भव है फिर मिलाप हो जावे।

मिलाप

वर्षों बीत गए। वही साधु भ्रमण करता-करता उनके नगर में पहुंच गया, परन्तु उसे नगर का नाम

तथा आकार भी विस्मरण हो चुका था, वह अकस्मात् नगर के बाहर सड़क से एक कूचे में प्रवेश कर रहा था कि कूचे के सर्वप्रथम गृह के बाहर एक बालक खड़ा था। साधु ने उससे सम्बोधन करके धर्मशाला का मार्ग पूछा। बालक ने ज्यों ही देखा पांव पर माथा नमा नमस्कार किया और कहा भगवन्! यह मेरा घर है आप यहां ही विराजें।

साधु–तुम कौन हो?

बालक–क्या आपने नहीं पहचाना? मैंने तो आपको भली प्रकार पहचान लिया। हरद्वार में आपसे भेंट हुई थी और माता-पिता जी ने आपसे चरण पधारने के लिए कहा था।

साधु–हमको स्मरण में नहीं आ रहा, हमें धर्मशाला या कुटिया का पता बता दो।

बालक–मैं तो जाने नहीं दूंगा। अपने घर में बिठाऊंगा।

बालक की सरलता का प्रभाव

झट बाहर से किवाड़ खोला और हाथ से पकड़कर अन्दर ले जाने लगा। साधु बालक के इस सरल स्वभाव को देखकर अन्दर चला गया।

साधु–घर में तो कोई है ही नहीं, तुम क्या काम करते हो?

बालक–मैं पाठशाला में पढ़ता हूं। अर्धावकाश था, मैं इस समय घर पर कुछ खाने–पीने के लिए आ जाता हूं। आज मैं आया तो किवाड़ बन्द था, अब माताजी कहीं गई होंगी। अब मेरा समय होनेवाला है।

साधु–तो तुम खाया क्या करते हो?

बालक–कभी मिठाई कभी रोटी का ग्रास और लस्सी का गिलास पीता हूं।

साधु–तो तुम जल्दी से खा पी लो और फिर चलो, कहीं अनुपस्थिति न लगे, गुरु जी क्रुद्ध न हों।

बालक–महाराज! कैसे खाऊं और क्या खाऊं? माता जी तो हैं नहीं, वह आवें तो देवें।

साधु–अरे भोले बालक! माताजी की क्या आवश्यकता है? देखो सामने खुली अलमारी में थाली में मिष्टान्न धरा है, क्या तुमको नहीं दीखता?

बालक–हां महाराज दीखता है परन्तु माता की आज्ञा के बिना ऐसे उठाना भी तो पाप है।

साधु–अरे पाप! कैसा पाप? तुम्हारा अपना गृह है। फिर चोरी क्या है?

बालक–कैसा पाप? फिर चोरी किसी और प्रकार की होती है? पता नहीं, मिठाई किसी और के लिए हो या माता ने मुझे यह वस्तु न देनी हो।

साधु-हां ऐसा हो सकता है। अच्छा तो रोटी निकाल लो वह तो बासी तुम्हारे लिए होती है।

बालक-वह तो है अपनी परन्तु पता नहीं माता ने किस-किस को कितनी-कितनी देनी होगी। वह वस्तु तो माता के अधिकार में है।

साधु-ऐसा प्रतीत होता है कि तुम माता से भय खाते हो, तुम्हारी माता बड़ी निर्दयी होगी।

बालक रो पड़ा

माता जी की निन्दा सुनते ही बालक रो पड़ा। साधु ने समझा कि ठीक ऐसा ही होगा कि माता इसकी निर्दयी है और कहा—देखा ना हमने बूझ लिया तुम भय से रो पड़े।

बालक-न महाराज! मैं भय से नहीं रोया, मेरी माता जैसी दयालु माता कोई बिरली ही होगी। मेरी माता मेरी माता है।

साधु-फिर तुम क्यों रोटी नहीं लेते? यदि माता का भय नहीं।

बालक-हमारे गृह में सबको माता जी ही सब वस्तुएं अपने हाथ से बांट देती हैं।

साधु-क्या तुम्हारे पिता को भी वहीं बांट देती हैं?

बालक-हां-हां! मेरे पिता जी भी अपने हाथ से

नहीं उठाते और उनकी शिक्षा भी यही है और उनकी आज्ञा है।

अस्तेय क्या है?

गृह की स्वामिनी मेरी माता है। वह बिना मांगे और कहे, समय की आवश्यकता के अनुसार सबको उचित रूप से पर्याप्त मात्राा में भोजन स्वयं दे दिया करती हैं। मेरे पिताजी का अधिकार अपने कार-व्यवहार दुकान पर है। अधिकारी तथा स्वामी की आज्ञा के बिना उनकी वस्तु को उठाना अस्तेय है, चोरी है।

पिताजी आ गए

इतने में पिताजी का आना हो गया। उसने ज्यों ही साधु को बैठा देखा, बड़े हर्ष से पांवों में माथा रखा और साधु ने अपने हाथ से उठाया और देखा तो उसे भी नहीं पहचाना। आश्चर्य में रहा, उसने कहा-

महाराज! आज तो मेरा सौभाग्य बढ़ा। आपके दर्शन हो गए और फिर घर में अपने आप पदार्पण किया। मुझे तो अकस्मात् गृह से रुपयों की थैली उठाने के लिए आना पड़ा है, बहुत-बहुत धन्यवाद है। मन बड़ा उत्सुक रहा परन्तु आपके स्थान का भी पता न था कि पत्र लिखते।

साधु-अच्छा भाई हमने तो तुमको भी न पहचाना। अच्छा! यह तो पीछे बात करेंगे, तुम्हारे बालक को बहुत देर हो गई है। क्षुधा, पिपासा भी इसे लगी है,

पाठशाला भी इसे जाना है, अनुपस्थिति अंकित न हो, (गैरहाजिरी न लगे) नहीं तो भूखा जाएगा। इसे कुछ खाने पीने को दे दो।

गृहस्थी–भगवन्! इसकी माता अभी आ जाती है। जल का घट लाने को गई प्रतीत होती है। वह आकर देगी। मुझे क्या पता? आज उसे क्या खिलाना है? चौके की स्वामिनी तो वही है, मैं कैसे हस्तक्षेप करूं?

साधु–अरे बालक! बड़ी क्षुधा लग रही है ना?

बालक–मुझे तो क्षुधा का विचार ही न रहा। आपके दर्शनों से क्षुधा की वृत्ति बदल गई। अब तो यह चिन्ता लग रही थी कि माताजी कहां गई होंगी? कितनी देर लगा दी। आपको बिना सेवा किये बिठा दिया। माताजी होतीं तो सेवा कऱने लग जातीं। अब पिताजी आ गए हैं। मैं पाठशाला जाता हूं, फिर मध्याह्न को आकर खाऊंगा।

साधु–तुम्हारा पिता भी बड़ा निर्दयी है कि तुम्हें भूखा देखकर भी दया नहीं करता।

माता का प्रसाद

बालक–न महाराज! ऐसा नहीं। माताजी जब कोई वस्तु देती हैं तो पिताजी ने समझा रखा है कि तुम उसे माता का प्रसाद समझा करो और उसे बड़े प्रेम से खाया करो, ताकि तुम में प्रेम के भावों की जागृति बनी रहे।

साधु–तो क्या तुम्हारे पिता भी तुम्हारी माता के दिये को प्रसाद स्वीकार करके सेवन करते हैं?

बालक–मुझे इस बात का ज्ञान नहीं। पिताजी जानें। मुझे तो अपना तथा भाइयों के लिए ज्ञान है।

साधु–हां भाई गृहस्थी! तनिक अब तुम बोलो। तुमको क्या समझकर भोजन देती है और तुम क्या समझकर लेते हो?

गृहस्थी–भगवन्! मुझे तो बड़ी श्रद्धा से भेंट के रूप में पेश करती है और मैं हर्ष और प्रेम से लेकर शुभाशीष देता हूं।

बालक प्रस्थान करने को ही था कि माता भरा घट लिए आ गई। ज्यों ही दृष्टि पड़ी और मुख से निकला वाह भगवन्! वाह! आज कैसा उत्तम दिन चढ़ा, मेरा तो आज सुदिन है। घट रखा और बड़े आदर से नमस्कार की।

माता–महाराज! आप को मेरी अनुपस्थिति से अवश्य कष्ट हुआ होगा। मुझे आज कारणवश कुछ समय लग गया। मेरा ध्यान तो बालक की ओर रहा कि वह आ गया होगा और प्रतीक्षा में व्याकुल हो रहा होगा। मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं आपके पग–प्रक्षालन (पांव धोकर) करके सेवा करूं।

साधु–हां!, हां! बहुत शीघ्र सर्वप्रथम यह कार्य करो। बालक बड़ा भूखा है और पाठशाला वापस जा रहा था।

साधु का सत्कार

माता ने झट मिठाई उठाई और पतिदेव को ऐसा संकेत किया कि साधु को पता भी न लगा। तीन थालियों में धरकर आ रही थी कि गृहस्थी ने लोटा ले जल से साधु के हाथ धुलाने के लिए भेंट किया।

साधु–पहले बच्चे को खा लेने दो उसे विलम्ब हो रहा है।

इतने कहते सुनते में देवी तीन थालियां लेकर आ गई, साधु देखकर चकित हो गया। अब तीनों को एक ही समय परोस आगे रखी और लस्सी के गिलास ले आई, तब सबने मिलकर बैठ मिठाई खाई और बालक चला गया।

साधु–अच्छा भक्त प्यारे! तुम व्यवहारी पुरुष हो, अब आप अपना काम सिद्ध करो और हमें कोई कुटिया एकांत बतला दो।

गृहस्थी–वाह महाराज! वाह! अब आपके दर्शन छोड़ के जाना काहे को? आप कृपया यहां रहिए, हमारे गृह को पवित्र कीजिए। यह सब आपका ही तो है।

प्रतिज्ञा पूरी करो

साधु–जिस काम के लिए आए और जो तुम्हारी प्रतीक्षा में होंगे, उनको जो क्षति होगी और तुम्हारे काम से जो अनियमता होगी, उसका पाप तो हम पर लगेगा

और हम गृहस्थियों के गृह में कैसे रहें? हमें तो एकांत चाहिए, हम साधु हैं।

गृहस्थी–अच्छा आपकी आज्ञा है तो मैं चला जाता हूं। परन्तु महाराज को हम अन्यत्र नहीं जाने देंगे। अब मध्याह्न होनेवाला है, भोजन तैयार होता है।

साधु–अच्छा तुम जाओ भोजन तक यहां हैं। गृहस्थी नमस्कार करके चल दिया।

साधु–देखो देवी! तुम अपने चूल्हे का काम करो और हम तब तक कहीं बाहर जा बैठते हैं। तुम अकेली स्त्री घर में हो। हम बैठना अच्छा नहीं समझते और फिर यहां बैठकर करेंगे भी क्या?

देवी–मैं ऊपर के गृह में एकान्त बना देती हूं, बाहर कहां जा बैठेंगे और यदि यहां भी बैठे रहें, तो यह भी एकान्त है।

साधु–ऊपर हो या नीचे, एकान्त भी हो, तब भी एक अकेली देवी ही गृह में हो, शास्त्र उसके समीप बैठना वर्जित करते हैं।

देवी–आप तो साधु हैं, साधक नहीं, पुनः आपको ऐसा संशय क्यों?

साधु–शास्त्रों की आज्ञा माननी चाहिए।

देवी–मुझे तो ऐसा भ्रम नहीं हुआ। शास्त्र क्या कहते हैं?

शास्त्र आज्ञा का भाव

साधु–शास्त्र कहते हैं कि घर में अकेली स्त्री हो, चाहे माता हो अथवा भगिनी अथवा पुत्री भी हो, तो पुरुष को उसके साथ नहीं रहना चाहिए।

देवी–महाराज! यह तो आप ही स्पष्ट कर रहे हैं कि किसी पुरुष को किसी अकेली स्त्री के पास अथवा साथ न रहना चाहिए। आप जब साधु बन चुके हैं तो आप में वह पुरुषत्व कहां रह गया जो गृहस्थी में होता है। गृहस्थी के लिए तो स्त्री जाति का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, चूंकि उसमें विषयवासनाएं उदार रूप में रहती हैं, जिनके उत्तेजित होने का कोई समय और विश्वास नहीं, इसलिए माता, कन्या तथा भगिनी तक के साथ अकेला बैठना वर्जित कर दिया। क्या आप माता और भगिनी की छाती तथा गोदी (पट्टों) पर अकेले वर्षों तक नहीं रहे! क्या उस समय आप पुरुष न थे!

साधु–देवी! उस समय तो मेरी विषयवासनाएं और पुरुषत्व सुप्त अवस्था में था।

देवी–तो क्या मनुष्य जब साधना करते-करते अपनी साधना को सिद्ध कर लेता है और साधु बन जाता है तो तब उसकी विषयवासनाओं की वही अवस्था नहीं हो जाती जो एक शिशु की सुप्त अवस्था में होती है?

साधु–हां! वैसी ही हो जाती है। जब तक न हो वह साधु कैसे बन सकता है।

देवी–तो आपको मैं किस रूप में प्रतीत होती हूं।

साधु–देवी के रूप में।

देवी–यदि यह सत्य है तो एक देवी, साक्षात् देवी के साथ रहते हुए किसी के मन में अदिव्य गुण का उठना कैसे हो सकता है और फिर आपका प्रश्न तो एकान्त वास का है? यदि मन इन्द्रियों में, विषय में भ्रमनेवाला है तो चाहे निर्जन वन की कुटिया भी हो तब भी उसे एकान्त नहीं और यदि मन विषयों से उपराम हो चुका है और आत्मा से युक्त परमात्मा में लगा हो तो संसार और बाजार भी उनके लिए एकान्त है।

साधु–बहुत अच्छा। तुम ऊंचा ज्ञान रखती हो। हमें बड़ी प्रसन्नता है परन्तु एक संशय उठता है कि देवी के अन्दर इतनी निर्दयता, कठोरता अपनी सन्तान के प्रति कभी नहीं देखी गई। तुम्हारा बालक पुत्र आया, उसे क्षुधा लग रही थी और तुम्हारे भय से अपने खाने की वस्तु अपने गृह से भी नहीं उठा सका। इससे अधिक क्या निर्दयता होगी?

देवी–भगवन्! माता की सच्ची दयालुता तथा प्रेम तो अपनी सन्तान से यही हो सकता है कि उसे दिव्य गुणयुक्त बना दे–

मनुर्भव

वेद ने कहा है 'मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्' हे

मनुष्य! तू मनुष्य बन! और अपनी सन्तान को दिव्य गुणवाला बना।

माता किसे कहते हैं?

माता का अर्थ भी यही है जो अपने पतिदेव से श्रवण कर रखा है कि माता वही है जो (क) मति को बनावे (ख) मान वाला बनावे। गर्भ में तो मति को बनाती है और उत्पन्न होने पर उसे मान वाला बनाने का यत्न करती है।

माता पिता का कर्तव्य

हम तो दोनों (स्त्री-पुरुष) माता के नाते अपने बालक को छोटे-छोटे पापों को, जिनको घर की चार दीवारी के अन्दर पाप नहीं समझा जाता और जिन पापों के अभ्यास से बालक बड़े होकर कुसंस्कारी बन जाते हैं, उनके सुप्तसंस्कार जागृत होकर बलवान् बन जाते हैं, और बड़े होकर जनता की दृष्टि से पतित कर देते हैं, उन्हीं से दूर रहने अथवा रोकने के लिए बड़े प्रेम और प्यार से समझाते हैं और यही माता का कर्तव्य है।

दूसरे बालक का आगमन और परीक्षा

अभी यह वार्ता हो रही थी कि दूसरा बालक आ गया। साधु को प्रणाम किया।

साधु-तुम्हारा नाम क्या है?

बालक-मुझे सुकर्मी कहकर बुलाते हैं।

साधु–यह देवी तुम्हारी क्या लगती है?

बालक–मेरी माता है।

साधु–तुम को क्या देती है और क्या करती है?

बालक–मुझे अन्न और ज्ञान आदि सब कुछ देती है और प्रेम करती है और संवार सुधार करती है।

साधु–किस प्रकार का ज्ञान देती है?

बालक–जिससे हम बालक पाप से बचे रहें।

पाप क्या है?

साधु–पाप क्या होता है?

बालक–वह कार्य जिससे हमारे शरीर का, मन का अथवा आत्मा का पतन हो उसे पाप कहते हैं अथवा जिससे संसार जाति और समाज की हानि बिगाड़ हो वह पाप है।

पाप के स्वरूप का दिग्दर्शन

साधु–तुमको किस प्रकार से पाप समझाते हैं?

बालक–कथाओं और दृष्टान्तों से।

साधु–अच्छा कोई चोरी की बात सुनाओ।

कथा

बालक–हमें पिताजी ने बताया था कि एक स्थान पर सत्संग लगा हुआ था। बहुत जनसंख्या उपस्थित थी। जब्र सत्संग समाप्त हुआ, एक प्रसिद्ध मानवाला धनी भी बैठा था। उसका एक नवयुवक पुत्र भी वहां उपस्थित था। उसे लघुशंका ने वेग किया। वह उठा, जनता की

जूतियां मिश्रित पड़ी थीं, उसे अपनी उपानह (जूती) ढूंढ़ने से न मिली परन्तु लघुशंका के वेग से व्याकुल हो रहा था। अपने पिता की उपानह पर दृष्टि पड़ी और उसे पहनकर दौड़ पड़ा। दूर जाकर लघुशंका करनी थी। इतने में प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी-अपनी उपानह पहननी आरम्भ कर दी। पिता चूंकि बड़ा धनी था, वह अन्त में नमस्कार करके बाहर आया, देखा तो जूता नहीं था, कुतूहल किया, बहुत से व्यक्ति एकत्रित हो गए। दैववशात कई पुलिस के अधिकारी तथा सिपाही भी सत्संग में आया करते थे, वे धनी मानी का बड़ा मान करते थे, वे भी आ गए।

जूते की खोज

थानेदार-सेठ जी! कहां रखी थी?

धनी-(स्थान दिखाकर) इस स्थान पर रखी थी। सिपाही भी साथ था, थानेदार ने सिपाही को आज्ञा दी कि यहां से जो पाद चिह्न जा रहे हैं, उनकी खोज निकालो। सिपाही पादचिह्नों का अनुकरण करता-करता उस स्थान पर जा पहुंचा जहां से वह नवयुवक आ रहा था, देखा कि उसने वही उपानह (जूती) पहन रखी है, उसे पकड़ लिया, कहा कि तुम चोर हो! चलो थानेदार साहब के पास। वह बेचारा आश्चर्य तथा चिन्ता में पड़ गया। कहने लगा कहां चोरी की है? मेरे पिता की उपानह हैं।

सिपाही ने कहा, 'कुतूहल भी तो तुम्हारे पिता ने ही मचा रखा है।' पकड़कर अन्दर लाया अभी दूर ही था कि पिता देखकर चकित रह गया।

दूर से देखते ही थानेदार ने कहा, इसे हथकड़ी लगा दो और थाने ले चलो।

धनी–यह तो मेरा पुत्र है! इतने में वे समीप आ गए।

थानेदार–तुमने क्यों चोरी की?

युवक–मैंने चोरी तो नहीं की। मुझे लघुशंका ने तंग किया, अपनी उपानह नहीं मिली, पिताजी की पहन ली और चला गया।

थानेदार–बेशक जूती तुम्हारे पिता की हैं। तुम जानते थे परन्तु तुम्हारे पिता को ज्ञान नहीं। चोरी क्या है? किसी वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना उठाना। राजकीय नियम के अनुसार यह चोरी ही है जो मना है।

अब धनी बेचारे को उल्टा भुगतना पड़ा और लोगों को भी। वहां के सन्त उपदेश करनेवाले यह कुतूहल सुनकर बाहर आये और कहा—देखो पुत्र! सचेत रहो, वस्तु पिता की हो अथवा माता की, जो तुम्हारे अधिकार में नहीं उसको उनकी आज्ञा के बिना उठाना राजनियमानुसार पाप है। यदि आचार सम्बन्धी पाप नहीं तो भी संस्कार तो चोरी-जारी तथा प्रमाद के अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं।

मनुष्य की सम्पत्ति

संस्कार ही मनुष्य की सम्पत्ति हैं। अच्छे अथवा बुरे जिन्हें सदैव काल अपने साथ रखता है।

दण्ड का लक्ष्य क्या है?

अब तुम प्रतिज्ञा कर लो कि कभी घर की वस्तु भी बिना आज्ञा न उठाऊंगा। युवक ने प्रतिज्ञा कर ली और सन्त ने थानेदार से कहा अब इसे क्षमा करना श्रेयस्कर है। दण्ड का लक्ष्य अथवा अभिप्राय सुधार ही है।

बालक ने कहा—ऐसे-ऐसे उदाहरण हम सदा स्मरण रखते और ध्यान में लाते रहते हैं और अनेक प्रकार के पापों से बचे रहते हैं।

अभिमान चूर

साधु सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और आशीर्वाद दी। किवाड़ बन्द कर एकचित्त हो बैठा। चित्त में विचार उठने लगे कि कितना उत्तम और श्रेष्ठ गृहस्थ है, वास्तविक साधु तो यही है। मैं तो साधु नाम का हूं। मुझे तो अभिमान था कि मैं इनकी भूल को दूर करूंगा, परन्तु अब तो मुझे अपनी भूल प्रत्यक्ष हो गई।

वृत्ति बदली

फिर साधु समाहित हो गया, थोड़े चिर पश्चात् ऊंघ आ गई।

क्या देखता है कि बहुत सी जनता उपस्थित है और मैं उपदेश कर रहा हूं और जनता प्रशंसा कर रही है कि साधु हों तो ऐसे हों। आंख खुल गई। सोचने लगा मैं साधु हूं यद्यपि यह गृहस्थी ऊंचे हैं तथापि मैं साधु होने के नाते इनको उपदेश दूं जिससे मैं इनकी दृष्टि में साधु जाचूं। वृत्ति बदल गई, झट देवी को बुलाकर कहने लगा, ऐ देवी! इधर आइये।

देवी-(कर जोड़कर) भगवन् आज्ञा दीजिए।

साधु-अब यह बताइए आप जिस समय काम करती रहती हैं, आपका मन उसी काम में रहता है अथवा संसार के अन्य-अन्य विषयों में भी दौड़ता रहता है, जैसे मन चंचल है।

देवी-मुझे कार्य आरम्भ का तो पता लगता है परन्तु समाप्ति अपने आप हो जाती है। मेरा कार्य मेरे मन तथा इन्द्रियों से होता रहता है, किन्तु नाम के आश्रय से, बस और कुछ नहीं जानती।

साधु-अच्छा तू मेरी माता है। तुझे मैं अब देवी के नाम से नहीं पुकारूंगा। माता जी के नाम से सम्बोधन करूंगा।

जाओ तपस्या करो

देवी-फिर आप कृपा कीजिए, भोजन कर लीजिए और कहीं एकान्त स्थान पर जाकर अभी साधु बनने

के लिए तपस्या कीजिए। आपकी दृष्टि, आपके शब्दों के अनुसार एक पुरुष अकेला माता के साथ भी न रहे, घटिया हो गई है। आप में अब रूप का भेद आ गया है तो रंग का भी आवेगा। रंग भी भंग डालता है।

विवेक की प्राप्ति कब होती है

साधु विस्मित हो गया और अपने अन्दर विवेक ज्ञान और तप की त्रुटि को अनुभव करने लगा कि मेरा तप तो बहुत था। वर्षों तक का जीवन व्यतीत किया। एकान्त और वन में रहा परन्तु अकस्मात् अभिमान के कारण विवेक-प्राप्ति नहीं कर सका।

वास्तविक विवेक तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक अभिमान, अहंकार मनुष्य में रहता है फिर चाहे वह कितना ज्ञानी ध्यानी अथवा कर्मकांडी क्यों न हो।

प्रभु करे कि हम लोगों को वास्तविक विवेक की प्राप्ति हो ताकि आश्रममर्यादा को पूरा करते हुए आदर्श गृहस्थी बन सकें।
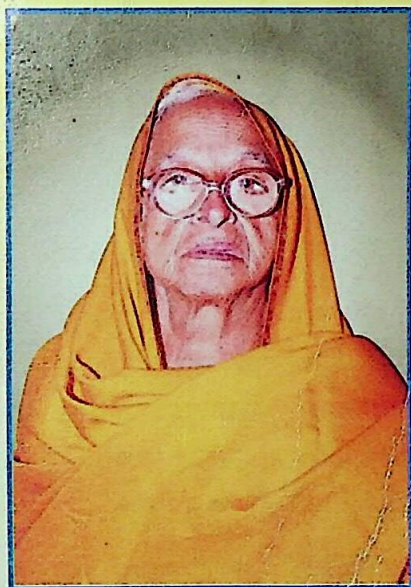
माता खुशां देवी

पूर्वनाम माता खुशां देवी धर्मपत्नी श्री हिम्मतराम जी छाबड़ा ने महात्मा सोमाश्रित जी की प्रेरणा से वैदिक भक्ति साधन आश्रम में वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर बड़े श्रद्धाभाव से नित्य यज्ञ करती और सत्संग में शामिल होतीं, सुमधुर भजन गातीं, उनकी परोपकारी दानवृत्ति अनुकरणीय है। यज्ञ आदि शुभकर्मों और अनेक गुरुकुलों, आश्रमों एवं अनाथालयों में हजारों रुपये का दान करके अपने धन का सदुपयोग किया। प्रस्तुत पुस्तक भी माताजी के सात्विक सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

इसी पुस्तक से

अतिथि सेवा

वह गृहस्थी बड़ा भाग्यवान् है जिसको अतिथि जन दूर बैठे हुए भी याद करते हैं और बुलाते आते हैं।

अतिथि दो प्रकार के हैं एक वह, जिनकी सेवा वस्त्रादि से की जाती है, ऐसे अतिथि से उनको कोई लाभ नहीं क्योंकि वह अपने आराम के लिए आते हैं। दूसरे वह कि जिनकी गृह में पहुंचकर वृत्ति टिक जाए, वह भाग्यशाली हैं, ऐसा अतिथि कुछ दे जाता है। गृहस्थी अपने आपको नम्र दिखाता है और अतिथि सेवा के पश्चात् कहता है कि महाराज हम तो स्वार्थी हैं, हमें भाड़ा दो। हमें बताओ कि हमारा किस प्रकार बेड़ा पार हो। ऐसा मार्ग बताओ कि जिससे आत्मा को रस आये। अब वह भक्ति का रस बताता है, एक बार तो वह उनके पापों को धो देता है जिस प्रकार जल कुछ काल तक ठण्डा रखता है, उसी प्रकार गृहस्थी का पाप धुलकर वृत्ति टिक जाती है। तभी वेद ने अतिथि की सेवा की महिमा को गाया है। यहां तक वेद भगवान् ने बताया कि जिस गृह से अतिथि निराश होकर लौट जाता है वहां का ऐश्वर्य, यश, कीर्ति आदि सब कुछ ले जाता है। अतः गृहस्थियो! सावधान रहो!

—वीतराग महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज